

आगमिक शब्दावलि और उसकी पारिभाषिकता

- डा: महेन्द्रसागर प्रचंडिया
एम.ए., पी-एच.डी., डी. लिट

काल-क्षेत्र में होने वाले नैतिक परिवर्तन के कारण हमारे सोच और समझ में भी यथेच्छ परिवर्तन हुये हैं। परिवर्तन प्रतिक्षण हो रहे हैं। इसी परिवर्तन की परम्परा में तथा हमारे नैतिक स्वाध्याय के अभाव में आज आगमिक शब्दावलि पूर्णतः पारिभाषिक हो गयी है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार श्रमण और साधु आगम चकृतू साहू अर्थात साधु आगम की आँख से देखता है। आगम की आँख से जीव और जगत को देखे बगैर प्राणी का आत्मिक और आध्यात्मिक विकास सम्भव नहीं होता है। आगम को देखने और परखने के लिये उसकी पारिभाषिक शब्दावलि पर सावधानी पूर्वक अध्ययन और अनुशीलन करना परमावश्यक है।

इसी आवश्यकता को ध्यानमें रखकर यहां उदाहरणार्थ दस शब्दों - यथा

- १) आवश्यक
- २) इन्द्रियां
- ३) कषाय
- ४) गुणस्थान
- ५) जैन संघ
- ६) परीषह
- ७) प्रतिक्रमण
- ८) समिति
- ९) साधु समाचरी
- १०) सल्लेखना

के आर्थिक स्वरूप में व्याप्त पारिभाषिकता का उजागरण करना वस्तुतः हमारा मूल अभिप्रेत है।

आवश्यक

आवश्यक शब्द के मूल में 'अवश' की सार्थकता है। वे सभी जीवन्त योग और प्रयोग जिनसे प्राणी - श्रावक और श्रमण इन्द्रिय - विषयों के वश में न रहे वस्तुतः आवश्यक कहलाता है।

संसार की समस्त धार्मिक मान्यताओं में आवश्यक जैसे अभिप्राय को महत्त्व दिया गया है। इससे अनुप्राणित साधक अथवा श्रावक अपनी जीवन चर्या को पेखता और परखता है। वैदिक परम्परा में इसे 'संध्या' तथा बौद्ध परम्परा में 'उपासना' कहा गया है। पारसी धर्मावलम्बी इसे 'खोर-देह अवस्ता', यहूदी और ईसाई मान्यताओं में 'प्रार्थना' तथा इस्लाम में इसे कहा गया है - 'नमाज'। जैन धर्म में इस प्रकार के अभिप्रेत को 'आवश्यक' संज्ञा से अभिहित किया गया है।

दिगम्बर आम्नाय में षट् आवश्यकों की संज्ञायें निम्नांकित हैं -

- १) देवदर्शन
- २) गुरुप्राप्ति
- ३) संयम
- ४) तप
- ५) स्वाध्याय
- ६) दान

जबकि श्वेताम्बरी परम्परा में षडावश्यक निम्नरूप में उल्लिखित हैं। यथा -

- १) सामाषिक
- २) चतुर्विंशतिस्तव
- ३) वंदन
- ४) प्रतिक्रमण
- ५) कार्यौत्सर्ग
- ६) प्रत्याख्यान

साधक/श्रमण अथवा श्रावक की दैनिक चर्या जब इन आवश्यकों से सम्पृक्त सम्पन्न होती है, तब वह वस्तुतः सन्मार्गी हो जाती है।

इन्द्रियों

इन्द्रिय शब्द के मूल में शब्द है-इन्द्र। इन्द्र शब्द का एक अर्थ है आत्मा। आत्मा सर्वथा अमृत द्रव्य/तत्व है। इन्द्रियों दो रूपों में विभक्त है -

- (१) भाव इन्द्रिय
- (२) द्रव्य इन्द्रिय

इन्द्रियों का बाह्य पौदगलिक रूप द्रव्येन्द्रिय कहलाता है जबकि आन्तरिक चिन्मय रूप कहलाता है - भावेन्द्रिय।

द्रव्यरूपा इन्द्रियों वस्तुतः आत्मा की परिचायक होती हैं। आत्मा के द्वारा होने वाले सभी संवेदनो के वे साधन भी होती हैं। इन्द्रियों गणना की दृष्टि से पांच प्रकार की कही गयी है। यथा

- १) आंख
- २) कान
- ३) घ्राण
- ४) रसना
- ५) स्पर्शन

संसार के सभी जीव कर्मानुसार इन इन्द्रियों को धारण करते हैं। एक इन्द्रिय-स्पर्शन धारक जीव स्थावर कहलाते हैं और शेष कहलाते हैं त्रस। मन के साथ पांच इन्द्रियों के धारक श्रेष्ठ कहलाते हैं। मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।

कषाय

कष और आय के सहयोग से कषाय शब्द का गठन हुआ है। कषाय का अर्थ - अभिप्राय है कर्म तज्जन्य जन्म-मरण। आय से तात्पर्य है - आना अर्थात् बंधन ! जीव का बार-बार जन्म-मरण के चक्र में पड़ना वस्तुतः कषाय का परिणाम है।

आवेग तथा लालसा मुखी वृत्तियां और प्रवृत्तियां कषाय को जन्म देती है।

क्रोध, मान, माया और लोभ नामक चार कषाय कहीं गयी है। कषाय ही आत्मा की विकृति का मूल कारण है। कषायों का पूर्णतः अन्त होना ही जीव का भव-भ्रमण से मुक्त होना है - कषाय मुक्तिः फिल मुक्तिरेव।

गुणस्थान

गुणस्थान वस्तुतः यौगिक शब्द है। गुण और स्थान के योग से 'गुणस्थान' शब्द का गठन होता है। गुण शब्द वस्तुतः आत्मा की विशेषता का बोधक है। आत्मा की विशेषताएं पांच प्रकार की हैं जिन्हें भाव भी कहते हैं।

- १) कर्मों के उदय से औदयिक भाव
- २) कर्मों के क्षय से क्षायिक भाव
- ३) कषाय के शमन से औपशमिक भाव
- ४) क्षयोपशम से क्षयोपशमिक भाव
- ५) कर्मों के उदय आदि से न होकर स्वाभाविक होने से 'पारिणामिक भाव'।

ये पाँचों भाव ही वस्तुतः गुण हैं और 'स्थान' से तात्पर्य है भूमिका। इस प्रकार आत्मा के भावों की भूमिका कहलाती है - गुणस्थान। गुणस्थान चौदह कहे गये हैं जो आत्मा के उत्तरोत्तर विकास के परिचायक हैं। प्रथम से तीसरे गुण स्थान वाले जीव कहलाते हैं - बहिरात्मा। बहिरात्मा सदा मिथ्यादर्शी होते हैं। चौथे से बारह गुणस्थान वाले जीव अन्तरात्मा कहलाते हैं, ऐसे जीव सदा सम्यकदर्शी होते हैं और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान वाले जीव कहलाते हैं - परमात्मा। परमात्मा सदा सर्वदर्शी होते हैं।

इस प्रकार संसार के अनन्तान्त जीव राशि इन्हीं चौदह गुणस्थानों में समाविष्ट हो जाती है।

जैन संघ

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने जब धर्म-शासन की स्थापना की तब जैन संघ के स्थापन की आवश्यकता भी अनुभव हुई और तब 'जैन संघ' भी गठित किया गया। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का समवाय जैन संघ के रूप को स्वरूप प्रदान करता है। साधु और साध्वी-जीवन प्रायः निवृत्तिपरक होता है जबकि श्रावक और श्राविका गृहस्थ का समुचित प्रवृत्ति मूला स्वरूप स्थिर करता है।

संघ श्रमणो की आचार संहिता को स्थिर करता है उस प्रकार वह गृहस्थों के लिए भी आदर्श विधि और विधान की स्थापना करता है। जैन परम्परा में श्रावक बनने के लिए दुर्व्यसनो के त्याग की आवश्यकता असंदिग्ध है। व्यसन सात कहे गये हैं - द्यूत खेलना, आखेट मदिरापान, चोरी करना, मांसाहार, परस्त्रीगमन और वेश्यागमन - किसी भी गृहस्थ को ये व्यसन विनाश को पहुंचा देते हैं। अतः इन सभी व्यसनो का त्याग किये बिना कोई प्राणी कभी अपना उद्धार नहीं कर सकता है।

परिषह

परिषह शब्द की अर्थात्मा का आधार सहज रूपेण सहन करने में निहित है। कर्मों की निर्जरा करने के लिए स्वतः सहन करने की प्रवृत्ति परीषह में व्याप्त है। परीषह सहन करने का अर्थ शरीर, इन्द्रिय और मन को कष्टायित करना नहीं है। इसका मूल लक्ष्य सन्मार्ग पर निर्विघ्न चलने के लिए संयम और तपादि धर्मों की साधना और आराधना करना है।

सधा हुआ साधक परीषह से कभी धबराता नहीं और न व्याकुल ही होता है अपितु वह मात्र द्रष्टा बन कर शान्ति पूर्वक सहन करता है।

परिषह बाईस कही गई है। इनके क्रम और संज्ञाओं में विभिन्न ग्रंथों में भिन्नता पाई जाती है। दर्शन और प्रज्ञा परीषहमार्ग से अच्यवन में सहायक होती है और शेषबीस परीषह कर्मों की निर्जरा में सहायता करती है।

प्रतिक्रमण

इस शब्द के मूल में क्रमण क्रिया महत्त्वपूर्ण है। इस से दो शब्द स्थिर होते हैं बाहर की और प्रहार करने के भाव उद्दीप्त होते हैं जब कि प्रतिक्रमण में यह प्रहार अन्तर्मुखी होता है।

प्रमाद के कारण शुभ और शुद्ध संकल्प से विचलित होकर अशुभ और अनुव संकल्प में चले जाने पर पुनः शुभ की और लौट आने के प्रयास - प्रयोग में प्रतिक्रमण का अभिप्रेत मुखर हो उठता है। साधक अपना आन्तरिक निरीक्षण करता है, और जब उसे यह अनुभव होता है कि यह परिवर्तन अथवा स्खलन हमारी मूर्च्छा और अज्ञानता के कारण हुआ है वह उसे सुधारता है, प्रायश्चित्त करता है ताकि उसे दुबारा आवृत न किया जाय। इस समग्र प्रक्रिया का नाम है प्रतिक्रमण।

प्रतिक्रमण को पांच भेदों में विभक्त किया गया है। यथा -

- १) दैवसिक
- २) रात्रिक
- ३) पाक्षिक
- ४) चतुर्मासिक
- ५) सांवत्सरिक

दिनभर में हुये दोषों का अन्त में प्रतिक्रमण अर्थात् चिन्तन करना दैवसिक प्रतिक्रमण कहलाता है। रात्रिकाल में दोषों का प्रातः चिन्तन करना वस्तुतः रात्रिका, प्रतिक्रमण है। पन्द्रह दिनों की अवधि में बन पड़े दोषों का चिन्तन करना पाक्षिक और चार महीनों के एक साथ अवधिमें बने दोषों का चिन्तन चातुर्मासिक प्रतिक्रमण कहलाता है। इसी प्रकार वर्ष भर के दोषों का प्रतिक्रमण करना कहलाता है सांवत्सरिक।

प्रतिक्रमण का आधुनिक प्रयोग डायरी-लेखन है। महात्मा गांधी इसी प्रकार के प्रयोग के पक्षधर थे।

समिति

सम तथा इति: के सुयोग से समिति शब्द का गठन होता है। सम से तात्पर्य है - एकी भावेन और इति: का अभिप्रेत है प्रवृत्ति। इस प्रकार प्राणातिपात प्रभृति पापों से निवृत्ति रहने के लिए प्रशस्त एकाग्रता पूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक प्रवृत्ति का नाम है समिति। सार और संक्षेप में समिति को परिभाषित करते हुये कहा जा सकता है - विवेक युक्त प्रवृत्ति का नाम है - समिति।

श्रमण और श्रावक की सुरक्षा और विशुद्धता के लिए समिति और गुप्ति का विधान है। गुप्ति का अर्थ है गोपन - गोपनं गुप्ति:मन, वचन और काय के योगों का जो प्रशस्त निग्रह है वस्तुतः वह है गुप्ति। समिति है प्रवृत्ति मुखी और गुप्ति है निवृत्तिमुखी। इन दोनों का योग अष्ट प्रवचनमाता का रूप धारण करती हैं। ये प्रवचन माताएं वस्तुतः चारित्र रूप हैं। श्रमण और श्रावक के संकल्प रक्षार्थ पांच प्रकारकी समितियों का सुयोग सर्वथा सार्थक है।

यथा -

- १) इर्या समिति
- २) भाषा समिति
- ३) एषणा समिति
- ४) आदान निक्षेपण समिति
- ५) परिष्ठापनिका समिति

साधु समाचरी

साधु-जीवन के लिए नित्यकर्मों की व्यवस्था रात और दिन में साधु को किस कार्यक्रम के अनुसार अपना साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहिये। इस प्रकार का विधिविधान वस्तुतः साधुसमाचरी कहलाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार श्रमचर्या हेतु समाचारी को आठ अंगों में विभक्त किया गया है। यथा -

- १) स्वाध्याय
- २) ध्यान
- ३) प्रति लेखन
- ४) सेवा
- ५) आहार
- ६) उत्सर्ग
- ७) निद्रा
- ८) विहार

श्रमणचर्या के लिये कहा गया “काले कालं समाचरे” अर्थात् ठीक समयपर सभी कार्य करना चाहिए। इस प्रयोग-चर्या से अनेक सहगुणों की अभिवृद्धि होती है।

संल्लेखना

जीवन और मरण सांसारिक प्राणी की दो प्रमुख घटनायें हैं। जीवन सभी को सुखद और प्रिय लगता है। मरण दुःखमय अप्रिय है। जैन संस्कृति में मरण को कलात्मक

रूप देकर महोत्सव के रूप में मनाने का निर्देश दिया है।

संल्लेखना में 'लेखन' शब्द मुख्यार्थ है। इसका अर्थ है शीर्ष और शांत करना। जीवन के अन्तिम क्षणों में सावधानी पूर्वक चलना वस्तुतः संल्लेखना व्रतराज है। इसमें शरीर और कषाय को क्रमशः कृश और कमजोर किया जाता है। दरअसल काय और कषाय कर्मबंध का मेरुदण्ड है इसे कृश करना ही कषाय है।

संल्लेखना को दो रूपों में विभक्त किया गया है। यथा -

- १) काय संल्लेखना या बाहय संल्लेखना।
- २) कषाय संल्लेखना या आभ्यन्तर संल्लेखना।

अनशन व्रत साधना से काय कृश किया जाता है आभ्यन्तर कषायों को पुष्ट करने के कारणों को क्रमशः कृश करना होता है। इससे अन्तर्मानस में किसी प्रकार की कामना नहीं रहती। जागतिक कामना जब समाप्त हो जाती है तब सिद्ध कामना सम्पूर्ण होती है।

संदर्भ ग्रंथ

- १) आवश्यक सूत्र
- २) आवश्यक नियुक्ति
- ३) उत्तराध्ययन सूत्र
- ४) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश
- ५) तत्त्वार्थ सूत्र
- ६) तत्त्वार्थ वृत्ति
- ७) दशवैकालिक
- ८) नन्दि सूत्र
- ९) प्रवचन सारोद्धार
- १०) प्रज्ञापना सूत्र
- ११) भगवती शतक